

जे. पी. बंसल

बनाम

राजस्थान राज्य एवं अन्य

12 मार्च, 2003

[शिवराज वी. पाटिल और अरिजीत पासायत, जे. जे.]

भारत का संविधान, 1950 - अनुच्छेद 166 और 310 (2) - राजस्थान कर और न्यायाधिकरण अधिनियम, 1995 - राजस्थान कराधान न्यायाधिकरण (निरसन) अध्यादेश, 1999 - धारा 4 (बी) - राज्य कराधान न्यायाधिकरण में सदस्य के रूप में कार्यकाल नियुक्ति - न्यायाधिकरण का तत्पश्चात उन्मूलन - पद का स्वतः समाप्त होना - नियुक्त द्वारा शेष कार्यकाल के लिए मुआवजे का दावा - मंत्रिमंडल के फैसले पर आश्रय - नीचे दी गई अदालतों द्वारा खारिज किया गया दावा-अपील पर अभिनिर्धारित किया गया: मंत्रिमंडल के फैसले को सरकारी आदेश के रूप में नहीं माना जा सकता है क्योंकि कार्रवाई सक्षम लोगों द्वारा नहीं की गई थी राज्य के प्रमुख के नाम पर प्राधिकरण नियुक्ति के अनुबंध में मुआवजे के संबंध में कोई शर्त नहीं थी और इसलिए अनुच्छेद 310 (2) लागू नहीं है - निरस्त के तहत मुआवजे का भुगतान करने का कोई दायित्व नहीं है - अधिनियम - वैध अपेक्षा का सिद्धांत मामले के तथ्यों में लागू नहीं होता है - प्रशासनिक कानून-वैध अपेक्षा का सिद्धांत।

कानूनों की व्याख्या:

किसी कानून की व्याख्या करने का प्राथमिक सिद्धांत पुरुषों को इकट्ठा करना है विधायिका की सेंटेंशिया लेजिस - जहां कानून की भाषा स्पष्ट है, वहां इस्तेमाल की गई भाषा से आशय का पता लगाया जाता है - जहां का आशय है विधायिका को अवगत करा दिया

गया है, न्यायाधीश को कानून निर्माता की भूमिका निभाने की घोषणा नहीं करनी चाहिए - न्यायनिर्णयन और कानून के बीच अंतर है - न्यायिक औचित्य ।

अपीलार्थी को राजस्थान कराधान का न्यायिक सदस्य नियुक्त किया गया वित्त विभाग द्वारा जारी अधिसूचना के संदर्भ में ट्रिब्यूनल प्रतिवादी - राजस्थान कर और न्यायाधिकरण अधिनियम, 1995 के तहत राज्य । तत्पश्चात उन्हें अध्यक्ष के कार्यों का निर्वहन करने के लिए नियुक्त किया गया था नए अध्यक्ष की नियुक्ति तक न्यायाधिकरण। राज्य सरकार ने राजस्थान कराधान न्यायाधिकरण (निरसन) अध्यादेश, 1999 जारी कर न्यायाधिकरण को समाप्त कर दिया और इसके समक्ष लंबित मामले और कार्यवाही स्वचालित रूप से उच्च न्यायालय में स्थानांतरित हो गई। न्यायाधिकरण के उन्मूलन पर अपीलार्थी का अध्यक्ष के रूप में बने रहना भी स्वतः ही समाप्त हो गया।

सर्वोच्च न्यायालय की रिपोर्ट अपीलार्थी ने शेष राशि के मुआवजे का दावा करते हुए रिट याचिका दायर की उनकी नियुक्ति का कार्यकाल। उन्होंने शेष अवधि के लिए अपना वेतन जारी करने के कैबिनेट के फैसले पर भरोसा किया। उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश ने रिट याचिका को यह कहते हुए खारिज कर दिया कि किसी भी हस्तक्षेप की मांग नहीं की गई थी क्योंकि स्वयं न्यायाधिकरण को समाप्त कर दिया गया था; कि मुआवजे की सटीक राशि केवल पक्षकारों से साक्ष्य लेने के बाद सक्षम न्यायालय द्वारा निर्णय लिया गया कि मंत्रिमंडल का निर्णय सरकार के विवेक का विषय था और यह था अपीलार्थी संबंधित प्राधिकारियों के समक्ष अभ्यावेदन प्रस्तुत कर सकता है। अपील को उच्च न्यायालय की खंड पीठ ने खारिज कर दिया था।

अपीलार्थी ने तर्क दिया कि मंत्रिमंडल का निर्णय लागू करने योग्य था क्योंकि यह संविधान के अनुच्छेद 166 के तहत सरकारी आदेश के चरित्र को लिए था ; कि मुआवजा संविधान के अनुच्छेद 310 (2) को देखते हुए देय था; कि अध्यादेश की धारा 4 (बी) के

तहत, निरस्त अधिनियम के तहत उपाजित या अनुपाजित किसी भी कर्तव्य या दायित्व को निरसन से प्रभावित नहीं होता है; और यह कि चूंकि कार्यकाल अवधी के अंत तक जारी रहने के लिए नियुक्त व्यक्ति की वैध अपेक्षा का उल्लंघन हुआ है, वैध अपेक्षा के सिद्धांत को लागू करके, राज्य सरकार मुआवजे का भुगतान करने के लिए बाध्य थी, भले ही मंत्रिमंडल का कोई निर्णय था या नहीं।

प्रत्यर्थी - राज्य ने तर्क दिया कि कोई कैबिनेट निर्णय नहीं था; कि यदि मंत्रिमंडल का ऐसा कोई निर्णय भी होता, तो भी यह संविधान के अनुच्छेद 166 के तहत परिकल्पित सरकारी आदेश की आवश्यकता को पूरा नहीं कर सकता था; कि नियुक्ति की समाप्ति विधायी कार्रवाई के आधार पर प्रभावी हुई, इसलिए किसी भी मुआवजे के अनुदान के लिए कोई गुंजाइश नहीं थी; कि वैध अपेक्षा के सिद्धांत या अध्यादेश की धारा 4 (बी) का इस मामले के तथ्यों पर कोई अनुप्रयोग नहीं है ।

याचिका खारिज करते हुए कोर्ट ने कहा,

निर्धारण: 1. मंत्रिमंडल के निर्णय को सरकारी आदेश रूप में नहीं लिया जा सकता है। यह स्थापित नहीं किया गया है कि संविधान के अनुच्छेद 166 के संदर्भ में कोई सरकारी आदेश था । संविधान के अनुसार संबंधित प्राधिकार द्वारा राज्यपाल के नाम से कार्रवाई की जानी चाहिए । जब तक यह औपचारिकता नहीं मानी जाती, तब तक इस कार्रवाई को राज्य की कार्रवाई नहीं माना जा सकता है। संवैधानिक रूप से मंत्रिपरिषद सलाहकार होती है और राज्य के प्रमुख के रूप में, राज्यपाल को मंत्रिपरिषद की सहायता या सलाह के साथ कार्य करना होता है। इसलिए, जब तक राज्यपाल द्वारा सलाह स्वीकार नहीं की जाती है, तब तक मंत्रिपरिषद के विचार राज्य की कार्रवाई में रूपांतरित नहीं होते हैं।

आर. चित्रलेखा आदि बनाम मैसूर राज्य और अन्य , ए. आई. आर. (1964) 1823; एल. जी. चौधरी बनाम सचिव एल. एस. जी. बिहार सरकार विभाग और अन्य , ए. आई. आर. (1980) एस. सी. 383; पंजाब राज्य बनाम सोधी सुखदेव सिंह, ए. आई. आर. (1961) एस. सी. 493 और बचित्तर सिंह बनाम पंजाब राज्य और अन्य, ए. आई. आर. (1963) एस. सी. 395, संदर्भित।

2.1. भारत के संविधान के अनुच्छेद 310 (2) के अनुसार, क्षतिपूर्ति संविदात्मक सेवा की समयपूर्व समाप्ति के लिए देय है। यह खंड केवल एक सक्षम प्रावधान है जो राज्यपाल को इसमें विशेष रूप से योग्य व्यक्ति(यों) के साथ अनुबंध में प्रवेश करने का अधिकार देता है उन्हें मुआवजा का भुगतान के लिए जहां "राज्य की खुशी पर सेवा" सिद्धांत के तहत कोई मुआवजा देय नहीं है। मुआवजे के संबंध में किसी विशिष्ट शब्द के अभाव में, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि इरादा भुगतान करने के लिए था। अगर मुआवजे का भुगतान करने की अंतर्निहित आवश्यकता होती, तो उसमें विशेष रूप से एक प्रावधान को शामिल करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। खंड (2) को अनावृत पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि संघ या राज्य के तहत सिविल पद धारण करने वाले व्यक्ति को अनुबंध में मुआवजे के भुगतान के लिए एक शर्त हो सकती है, यदि किसी सहमत अवधि की समाप्ति से पहले उस पद को समाप्त कर दिया जाता है या उसे अपनी ओर से, उन कारणों से, जिनका कोई संबंध किसी भी कदाचार से जुड़े कारणों से नहीं है, पद खाली करने की आवश्यकता होती है। संविदात्मक दायित्व के आधार पर मुआवजे के भुगतान के मामले में एक सक्षम प्रावधान होने के नाते, यह नहीं कहा जा सकता है कि जब रोजगार के अनुबंध में कोई शर्त नहीं है, तब भी यह अंतर्निहित है। [942-बी-ई]

डॉ. एल. पी. अग्रवाल बनाम भारत संघ और अन्य, ए. आई. आर. (1992) एस. सी. 1872; आर. राजेन्द्रन और अन्य आदि आदि बनाम तमिलनाडु राज्य और अन्य , ए. आई.

आर. (1982) एस. सी. 1107; *हिमाचल प्रदेश राज्य और अन्य बनाम कैलाश चंद महाजन और अन्य*, [1992] सप. 2 एस. सी. सी. 351 और *आ. प्र. राज्य और अन्य बनाम बोल्लाप्रगड सूर्यनारायण और अन्य*, ए. आई. आर. (1992) एस. सी. 1872, प्रभेदित।

2.2. किसी कानून की व्याख्या या शब्दानुवाद करने का प्राथमिक सिद्धांत विधायिका के मेन्स या सेंटेंसिया लेजिस को इकट्ठा करना है। व्याख्या किसी विशेष विचार को संप्रेषित करने के लिए अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में कानून में उपयोग किए गए शब्दों के सही अर्थ की खोज को अभिनिर्धारित करती है। यह काम आसान नहीं है क्योंकि सामान्य बातचीत या पत्राचार में भी "भाषा" को अक्सर गलत समझा जाता है। यद्यपि पत्राचार या वार्तालाप के मामले में वह व्यक्ति जिसने शब्द बोले हैं या भाषा का उपयोग किया है, स्पष्टीकरण के लिए संपर्क किया जा सकता है, विधायिका से संपर्क नहीं किया जा सकता है क्योंकि विधायिका, किसी कानून या अधिनियम को लागू करने के बाद, जहां तक उस विशेष अधिनियम का संबंध है, अधिकारहीन बन जाता है और वह स्वयं इसकी व्याख्या नहीं कर सकता है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि विधायिका के पास इस तरह से बनाए गए कानून को संशोधित करने या निरस्त करने की शक्ति है और वह इसका अर्थ भी घोषित कर सकती है, लेकिन यह कानून बनाने की पूरी प्रक्रिया शुरू करने के बाद ही कोई अन्य कानून या संविधि बनाकर किया जा सकता है। कानून विधायिका का एक आदेश होने के कारण, यह आवश्यक है कि इसे व्यक्त किया जाए स्पष्ट और असंदिग्ध भाषा में। [942 - जी, एच; 943-ए, बी]

महल प्रशासन बोर्ड बनाम राम वर्मा भारतन थम्पुरन, ए. आई. आर. (1980) एस. सी. 1187, संदर्भित।

2.3. जहाँ "भाषा" स्पष्ट है, वहाँ विधायिका का इरादा उपयोग की गई भाषा से एकत्र किया जाना है। ध्यान में रखने वाली बात यह है कि कानून में क्या कहा गया है और क्या

नहीं कहा गया है। एक शब्दानुवाद, जिसके समर्थन के लिए, शब्दों के जोड़ या प्रतिस्थापन की आवश्यकता होती है या जो परिणामस्वरूप शब्दों की अस्वीकृति करता है, उनसे बचा जाना चाहिए, जब तक कि यह आवश्यकता सहित अपवाद के नियम द्वारा अन्तर्निहित नहीं हो । [944-ए, बी।

ग्वालियर रेयन्स सिल्क एम. एफ. जी. (डब्ल्यूजी.) कं. लिमिटेड बनाम निहित वनों के संरक्षक, ए. आई. आर. (1990) एससी 1747; श्याम किशोरी देवी बनाम पटना नगर निगम, ए. आई. आर. (1966) एस. सी. 1678 और ए. आर. अंतुले बनाम रामदास श्रीनिवास नायक, [1984] 2 एस. सी. सी. 500, संदर्भित।

किरबी बनाम लेदर, (1965) 2 आल इ आर 441, संदर्भित।

2.4. जहाँ शब्द स्पष्ट हैं, वहाँ कोई अस्पष्टता नहीं है, वहाँ कोई नहीं है अस्पष्टता और विधायिका के इरादे को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया जाता है, न्यायालय के लिए वैधानिक प्रावधानों को संशोधित करने या बदलने का कार्य नया करने या अपने ऊपर लेने की कोई गुंजाइश नहीं है। उस स्थिति में न्यायाधीशों को केवल न्यायिक वीरता की प्रदर्शनी में यह घोषणा नहीं करनी चाहिए कि वे एक कानून निर्माता की भूमिका निभा रहे हैं । उन्हें याद रखना होगा कि एक रेखा है, हालांकि पतली है, जो निर्णय को कानून से अलग करती है। उस रेखा को पार या मिटाया नहीं जाना चाहिए। इसे " इसे पार न करने की आवश्यकता की एक सतर्क मान्यता और ऐसा ना करने का सहज ज्ञान के साथ-साथ प्रशिक्षित अनिच्छा " द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है । निःसंदेह, न्यायालय कानून को इस रूप में पुनर्निर्धारित नहीं कर सकता है जैसा की उसके पास कानून बनाने की कोई शक्ति नहीं है । [943 - डी, ई; 944-सी]

केरल राज्य बनाम मथाई वर्गीज, [1986] 4 एस. सी. सी. 746 और यूनियन ऑफ भारत बनाम देवकी नंदन अग्रवाल ए. आई. आर. (1992) एस. सी. 96, संदर्भित।

डुपोर्ट स्टील्स लिमिटेड बनाम सर्स, (1980) 1 आल ई. आर. 529, संदर्भित।

फ्रैंकफर्टर द्वारा " न्यायशास्त्र पर निबंधों " में कानूनों के पठन पर कुछ विचार पर, कोलंबिया लॉ रिव्यू, संदर्भित।

3. राजस्थान कराधान न्यायाधिकरण (निरसन) अध्यादेश की धारा 4 (बी), 1999 यह भी किसी भी तरह से अपीलार्थी की सहायता नहीं करता है क्योंकि मुआवजे का भुगतान करने के लिए निरस्त अधिनियम के तहत कोई कर्तव्य या दायित्व अर्जित या उपार्जित नहीं है। [946 - बी, सी]

श्री न्यायमूर्ति एस. के. रे बनाम उड़ीसा राज्य और अन्य, जे. टी. (2003) 1 एससी 166, प्रभेदित।

4. 'वैध अपेक्षा' के सिद्धांतों का वर्तमान मामले के तथ्य में कोई अनुप्रयोग नहीं है। यह सिद्धांत कानून के शासन की जड़ में है और सरकारों के जनता के साथ व्यवहार में नियमितता, पूर्वानुमेयता और निश्चितता की आवश्यक है। [946 - जी]

नवज्योति को-ऑप. ग्रुप हाउसिंग सोसाइटी बनाम भारत संघ, [1992] 4 एससीसी और 477; राष्ट्रीय भवन निर्माण निगम बनाम एस. रघुनाथन और अन्य, [1998] 7 एस. सी. सी. 66, संदर्भित।

पियर्सन बनाम गृह विभाग के लिए राज्य सचिव, (1997) 3 आल ई. आर. 577; सिविल सेवा संघों की परिषद और अन्य बनाम सिविल सेवा मंत्री सेवा, (1985) ए.सी. 374; आर. बनाम आई. आर. सी., एक्स पी. प्रेस्टन, (1985) एसी 835 और ह्यूजेस बनाम स्वास्थ्य और सामाजिक सुरक्षा विभाग (एच. एल.), (1985) ए. सी. 776, संदर्भित।

डाइसी द्वारा 10 वीं संस. 1968 पे. 203, 'संविधान के कानून के अध्ययन का परिचय', संदर्भित।

सिविल अपीलिय न्यायनिर्णयः सिविल अपील सं. 2001 की 5982 ।

राजस्थान उच्च न्यायालय के 2000 के D.B.S.A. सं. 11 में 30.5.2000 दिनांकित निर्णय और आदेश से।

अपीलार्थियों के लिए सुश्री इंद्र मकवाना के लिए सी. के. गर्ग, एस. बी. सान्याल, सुश्री दीप्ति चौधरी।

प्रत्यर्थी के लिए वी. एन. रघुपति के लिए डी. के. ठाकुर, सुश्री भारती उपाध्याय, रणजी थॉमस।

न्यायालय का निर्णय दिया गया

अरिजीत पासायत, जे. अपीलार्थी ने राजस्थान कराधान और न्यायाधिकरण (संक्षेप में 'न्यायाधिकरण') के अध्यक्ष के रूप में काम काज समाप्त होने पर मुआवजे का भुगतान करने का आदेश करते हुए, राजस्थान राज्य को मंदमस का रिट जारी करने के लिए प्रार्थना, राजस्थान उच्च न्यायालय के विद्वान एकल न्यायाधीश और खंड पीठ द्वारा खारिज कर दिए जाने पर, यह अपील चुना गया है। चूंकि इसमें शामिल मुख्य प्रश्न मूल रूप से कानूनी है, इसलिए तथ्यात्मक पहलुओं में विस्तार से प्रवेश करना अनावश्यक है ।

संक्षेप में तथ्यात्मक परिदृश्य इस प्रकार है:

अपीलार्थी को न्यायाधिकरण के न्यायिक सदस्य के रूप में नियुक्त किया गया था, राजस्थान सरकार के वित्त विभाग (कराधान प्रभाग) द्वारा जारी अधिसूचना दिनांक 16.9.1995 से । अपीलकर्ता की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा राजस्थान कर एवं अधिकरण अधिनियम 1995 (संक्षेप में "अधिनियम") की धारा 3 की उपधारा (2) के खंड (ए) द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए किया गया था । उपरोक्त उल्लिखित अधिसूचना दिनांक 16.9.1995 द्वारा, अध्यक्ष एवं तकनीकी सदस्य भी नियुक्त किये गये थे । तत्पश्चात,

अपीलार्थी की नियुक्ति की गयी थी न्यायाधिकरण के अध्यक्ष के कार्यों के निर्वहन के लिए, नियमित अध्यक्ष की नियुक्ति तक । यह आकस्मिकता पूर्व अध्यक्ष के 65 वर्ष की आयु प्राप्त करने पर उत्पन्न हुई । राज्य सरकार ने दिनांक 27.2.1999 की अधिसूचना के माध्यम से एक अध्यादेश संख्या 1/1999 जारी किया जिसका नाम द राजस्थान टैक्सेशन न्यायाधिकरण (निरसन) अध्यादेश, 1999 (संक्षेप में 'अध्यादेश') है। वही अधिसूचना की तारीख यानी 27.2.1999 से प्रभावी हो गया। उपरोक्त अध्यादेश द्वारा धारा 5 के तहत मामले और अध्यादेश के प्रारंभ की तारीख को न्यायाधिकरण के समक्ष लंबित कार्यवाही स्वतः ही निपटारन के लिए उच्च न्यायालय को स्थानांतरित हो गई । न्यायाधिकरण के समाप्त होने के परिणामस्वरूप, अध्यक्ष के रूप में अपीलार्थी का बने रहना स्वतः ही समाप्त हो गया । अपीलार्थी ने रुपये 5,35,648 प्रति वर्ष 15 प्रतिशत की दर से ब्याज के साथ के मुआवजे का दावा किया इस आधार पर एक रिट याचिका दायर करके कि उनकी नियुक्ति कार्यकाल 18.9.2000 तक जारी रहने वाली थी। चूंकि नियुक्ति का कार्यकाल समय से पहले समाप्त किया गया था, इसलिए नियुक्ति की समाप्ति की तारीख से 18.9.2000 (जो उनके अनुसार कार्यकाल की नियुक्ति की अवधि की अंतिम तिथि थी) तक की शेष अवधि के लिए मुआवजे का दावा किया गया था। जयपुर पीठ में राजस्थान उच्च न्यायालय के समक्ष रिट आवेदन दायर किया गया था। विद्वान एकल न्यायाधीश के समक्ष अपीलार्थी का रुख यह था कि शेष अवधि के लिए अपीलार्थी को वेतन जारी करने का मंत्रिमंडल का निर्णय लिया गया था, जिसका भुगतान किया जाना था । चूंकि अपीलार्थी का कार्यकाल कम नहीं किया जा सकता था, इसलिए वह मुआवजे का हकदार था । दिनांक 27.9.1999 के निर्णय द्वारा 1999 की एस. बी. सिविल रिट याचिका No.4379 में रिट याचिका को विद्वान एकल न्यायाधीश द्वारा खारिज कर दिया गया था। यह नोट किया गया कि अध्यादेश की वैधता को चुनौती नहीं दी गई थी। चूंकि स्वयं न्यायाधिकरण को समाप्त कर दिया गया था और इसके समक्ष लंबित सभी मामलों को उच्च न्यायालय में स्थानांतरित कर दिया गया था,

इसलिए किसी भी हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं थी। यह नोट किया गया कि मुआवजे की सटीक राशि केवल एक सक्षम अदालत द्वारा पक्षों से साक्ष्य लेने के बाद ही तय की जा सकती है। जहाँ तक मंत्रिमंडल के निर्णय के कार्यान्वयन का संबंध है, यह नोट किया गया कि यह सरकार के विवेक का विषय था और अपीलकर्ता के लिए संबंधित अधिकारियों को प्रतिनिधित्व करने का अधिकार था। उच्च न्यायालय के पास मंत्रिमंडल के फैसले को लागू करने का अधिकार नहीं था। यह मामला खंड पीठ के समक्ष अपील में उठाया गया था जिसने उसी धारणा को खारिज कर दिया कि विद्वान एकल न्यायाधीश ने एक सुविचारित निर्णय सुनाया है और इसमें किसी हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं है।

अपीलार्थी के विद्वान वकील ने अपील की समर्थन में मुख्य रूप से तीन रुख अपनाए। सबसे पहले, यह प्रस्तुत किया गया कि मंत्रिमंडल का निर्णय प्रवर्तनीय है। मंत्रिमंडल की बैठक में चार फैसले लिए गए थे। वे संबंधित थे: (1) अध्यादेश की घोषणा, (2) तकनीकी सदस्य का उसके मूल विभाग में प्रत्यावर्तन, (3) कर्मचारियों के सदस्यों का समावेशन और (4) अपीलार्थी को मुआवजे का भुगतान। जबकि पहले तीन निर्णय लागू किए गए थे; केवल मुआवजे के भुगतान से संबंधित अंतिम निर्णय को लागू नहीं किया गया। राज्य सरकार द्वारा लिया गया रुख भारत के संविधान, 1950 (संक्षेप में 'संविधान') के अनुच्छेद 166 के तहत सरकारी आदेश के चरित्र को सदस्य नहीं करने का तर्क संगत नहीं है। दूसरा, संविधान के अनुच्छेद 310 का खंड (2) उस प्रभाव के अनुबंध के आधार पर कार्यकाल नियुक्ति की समय से पहले समाप्ति पर मुआवजे के भुगतान से संबंधित है। भले ही मुआवजे के भुगतान के लिए कोई संविदात्मक निर्धारण नहीं था, लेकिन इसे अनुच्छेद 310 के खंड (2) की भावना में अंतर्निहित आवश्यकता के रूप में लिया जाना चाहिए। संवैधानिक शासनादेश को प्रभावी बनाने के लिए प्रावधानों की व्याख्या होनी चाहिए। मंत्रिमंडल द्वारा लिया गया निर्णय उक्त प्रावधान के अनुरूप था और इसलिए, उच्च न्यायालय द्वारा मुआवजा देने से इनकार करना उचित नहीं था। अंत में, चूंकि कार्यकाल की

अवधि के अंत तक जारी रहने की अपीलार्थी की वैध अपेक्षा का उल्लंघन हुआ है, इसलिए वैध अपेक्षा के सिद्धांत को लागू करके राज्य सरकार मुआवजे का भुगतान करने के लिए बाध्य थी, भले ही पहले कोई कैबिनेट निर्णय हो या नहीं और इससे कोई फर्क नहीं पड़ेगा। अध्यादेश की धारा 4 (बी) की भी उस संदर्भ में प्रासंगिकता है। निरस्त किए गए अधिनियम के तहत उपार्जित या अनुपार्जित कोई भी दायित्व या कर्तव्य निरसन से प्रभावित नहीं होती है।

स्टैंड के समर्थन में निम्नलिखित निर्णयों पर निर्भरता रखी गई: *एल. जी. चौधरी बनाम सचिव, एल. एस. जी. विभाग, बिहार सरकार और अन्य*, ए. आई. आर. (1980) एस. सी. 383, *हिमाचल प्रदेश राज्य और अन्य बनाम कैलाश चंद महाजन और अन्य*, [1992] सप. 2 एस. सी. सी. 351, *आर. राजेंद्रन और अन्य आदि आदि बनाम तमिलनाडु राज्य और अन्य*, ए. आई. आर. (1982) एस. सी. 1107, *आ. प्र. राज्य और अन्य बनाम बोल्लाप्रगड सूर्यनारायण और अन्य*, [1997] 6 एस. सी. सी. 258, *डॉ. एल. पी. अग्रवाल बनाम भारत संघ और अन्य*, ए. आई. आर. (1992) एस. सी. 1872, *ए. आई. आर. (1992) एस. सी. 1872 और श्री जस्टिस एस. के. रे बनाम उड़ीसा राज्य और अन्य*, जे. टी. (2003) आई. एस. सी. 166.

जवाब में, राजस्थान राज्य के विद्वान वकील ने निवेदन किया कि अपीलार्थी द्वारा दाखिल पंक्ति में मंत्रिमंडल का कोई निर्णय नहीं था। भले ही ऐसा कोई कैबिनेट निर्णय हुआ होगा, यह संविधान के अनुच्छेद 166 के तहत परिकल्पित सरकारी आदेश की आवश्यकता को पूरा नहीं कर सकता। इसके अलावा, नियुक्ति की समाप्ति प्रभावी हो गई विधायी कार्रवाई के आधार पर। अतः मुआवजा के अनुदान की कोई गुंजाइश नहीं है। जिन निर्णयों का आश्रय लिया गया था, उनका कोई उपयोग नहीं है क्योंकि उन संबंधित कानूनों

में मुआवजे के भुगतान के लिए विशिष्ट प्रावधान थे । वैध अपेक्षा के सिद्धांत इस मामले के तथ्यों पर लागू नहीं होते हैं - जैसा कि अध्यादेश की धारा 4 (बी) के प्रावधान हैं।

वहाँ इस बात पर विवाद कोई नहीं है कि अधिनियम की धारा 3 की उप-धारा (5) के तहत, न्यायिक सदस्य को उस तारीख से पाँच साल की अवधि के लिए पद धारण करना था जिस पर वह कार्यालय में प्रवेश करता है या जब तक वह बासठ वर्ष की आयु प्राप्त नहीं कर लेता, जो भी बाद में हो । इस निर्विवाद स्थिति को देखते हुए, बहुत संकीर्ण कम्पास के भीतर विवाद निहित है ।

संविधान का अनुच्छेद 166 सरकार के आचरण से संबंधित है। व्यवसाय। उक्त प्रावधान इस प्रकार है:

“166. किसी राज्य सरकार का कार्य संचालन। - (1) किसी राज्य की सरकार की समस्त कार्यपालिका की कार्रवाई राज्यपाल के नाम से की हुई कही जाएगी।

(2) राज्यपाल के नाम से किए गए और निष्पादित आदेशों और अन्य लिखतों को ऐसी रीति से अधिप्रमाणित किया जाएगा जो राज्यपाल द्वारा बनाए जाने वाले नियमों में विनिर्दिष्ट की जाए और इस प्रकार अधिप्रमाणित आदेश या लिखत की विधिमान्यता इस आधार पर प्रश्नगत नहीं की जाएगी कि वह राज्यपाल द्वारा किया गया या निष्पादित आदेश या लिखत नहीं है।

(3) राज्यपाल, राज्य की सरकार का कार्य अधिक सुविधापूर्वक किए जाने के लिए और जहाँ तक वह कार्य ऐसा कार्य नहीं है जिसके विषय में इस संविधान द्वारा या इसके अधीन राज्यपाल से यह अपेक्षित है कि वह अपने विवेकानुसार कार्य करे वहाँ तक मंत्रियों में उक्त कार्य के आबंटन के लिए नियम बनाएगा ।”

खंड (1) में यह अपेक्षा की गई है कि राज्य सरकार की सभी कार्यकारी कार्रवाई राज्यपाल के नाम पर की जानी चाहिए। इसके अलावा अनुच्छेद 166 (1) के अनुपालन के लिए शब्दों का कोई विशेष सूत्र आवश्यक नहीं है। न्यायालय को यह देखना है कि क्या उसकी आवश्यकता के सार का पालन किया गया है। *आर. चित्रलेखा आदि बनाम मैसूर राज्य और अन्य*, ए. आई. आर. (1964) 1823 में एक संविधान पीठ ने अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद के प्रावधान केवल निर्देशिका थे और चरित्र में अनिवार्य नहीं थे और यदि उनका पालन नहीं किया गया तो फिर भी इस तथ्य के प्रश्न के रूप में स्थापित किया जा सकता है कि विवादित आदेश वास्तव में राज्य सरकार या राज्यपाल द्वारा जारी किया गया था। खंड (1) यह निर्धारित नहीं करता है कि सरकार की कार्यकारी कार्रवाई कैसे की जानी है, यह केवल उस तरीके को निर्धारित करता है जिसके तहत इस तरह के अधिनियम को व्यक्त किया जाना है। जबकि खंड (1) अभिव्यक्ति के तरीके के संबंध में, खंड (2) उन तरीकों को निर्धारित करता है जिनमें आदेश को प्रमाणित किया जाना है। क्या कोई अनुच्छेद 166 के संदर्भ में सरकारी आदेश है प्रत्येक मामले की तथ्यात्मक पृष्ठभूमि से निर्णय लिया जाना है। अपीलार्थी के लिए विद्वान वकील ने एल. जी. चौधरी (उपरोक्त) पर यह तर्क देने के लिए मजबूत निर्भरता रखी कि सभी व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए मंत्रिमंडल के निर्णय को सरकारी आदेश के रूप में माना जाना चाहिए, क्योंकि मंत्रिमंडल द्वारा लिए गए तीन निर्णयों को लागू कर दिया गया है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, राज्य के विद्वान वकील ने यह रुख अपनाया कि न तो रिट याचिका में और न ही उच्च न्यायालय के समक्ष, मंत्रिमंडल का निर्णय ही प्रस्तुत किया गया था। वास्तव में, मंत्रिमंडल का ज्ञापन और मंत्रिमंडल का आदेश दिखाएँ कि कोई मुआवजा देने का कोई निर्णय नहीं लिया गया था। इस संबंध में कैबिनेट ज्ञापन दिनांक 18.3.1993 और 1999 के निर्णय संख्या 57 का संदर्भ दिया

गया है। यह आगे प्रस्तुत किया गया कि भले ही यह तर्क के लिए स्वीकार किया जाता है कि ऐसा निर्णय लिया गया था, लेकिन इसे रिट याचिका द्वारा लागू नहीं किया जा सकता है।

हमें इस विवादित प्रश्न में गहराई से जाने की आवश्यकता नहीं है कि क्या वहाँ मंत्रिमंडल का कोई भी निर्णय था, क्योंकि यह स्थापित नहीं किया गया है कि संविधान के अनुच्छेद 166 के संदर्भ में कोई सरकारी आदेश था। संविधान के अनुसार संबंधित प्राधिकारी द्वारा राज्यपाल के नाम पर कार्रवाई की जानी चाहिए। जब तक यह औपचारिकता नहीं मानी जाती, तब तक इस कार्रवाई को राज्य की कार्रवाई माना जा सकता है। संवैधानिक रूप से मंत्रिपरिषद सलाहकार होती है और राज्य के प्रमुख के रूप में, राज्यपाल को मंत्रिपरिषद की सहायता या सलाह से कार्य करना होता है। इसलिए, जब तक राज्यपाल द्वारा सलाह स्वीकार नहीं की जाती, मंत्रिपरिषद के विचार राज्य की कार्रवाई में स्पष्ट नहीं होते हैं। (देखें: *पंजाब राज्य बनाम सोधी सुखदेव सिंह*, ए. आई. आर. (1961) एस. सी. 493, *बचितर सिंह बनाम पंजाब और अन्न राज्य*, ए. आई. आर. (1963) एस. सी. 395। ऐसा होने पर, अपीलार्थी की पहली याचिका खारिज कर दी जाती है।

अनुच्छेद 310 के खंड (2) से संबंधित याचिका पर आते हुए, संविदा सेवा की समयपूर्व समाप्ति के लिए मुआवजा देय है। यह खंड केवल एक सक्षम प्रावधान है जो राज्यपाल को सशक्त बनाता है विशेष रूप से योग्य व्यक्तियों के साथ अनुबंध में प्रवेश करने के लिए जो मुआवजा के भुगतान देता है जहां "राज्य की खुशी पर सेवा" सिद्धांत के अंतर्गत कोई मुआवजा देय नहीं है। मुआवजे के संबंध में किसी विशेष शर्त के अभाव में, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि इरादा भुगतान करने का था। अपीलार्थी द्वारा जैसा प्रतिवाद किया गया, यदि मुआवजे का भुगतान करने की अंतर्निहित आवश्यकता थी, तो उस संबंध में एक प्रावधान शामिल करने की विशेष रूप से इसकी कोई आवश्यकता नहीं

थी । खंड (2) को अनावृत पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुबंध में मुआवजे के भुगतान के लिए एक शर्त हो सकती है संघ या राज्य के अधीन सिविल पद धारण करने वाले किसी व्यक्ति के लिए, यदि किसी सहमत अवधि की समाप्ति से पहले उस पद को समाप्त कर दिया जाता है या वह अपनी ओर से किसी कदाचार से नहीं जुड़े कारणों से पद खाली करने के लिए अपेक्षित है। संविदात्मक दायित्व के आधार पर मुआवजे के भुगतान के मामले में एक सक्षम प्रावधान होने के नाते, यह नहीं कहा जा सकता है कि जब रोजगार के अनुबंध में कोई शर्त नहीं है, तब भी यह अंतर्निहित है।

विद्वान वकील का तर्क करना कि ऐसा प्रावधान अंतर्निहित है और अधिनियम और अध्यादेश पढ़े जाना में स्पष्ट रूप से है अस्वीकार्य है।

ऐसा कहा जाता है कि एक कानून विधायिका का एक आदेश है। किसी कानून की व्याख्या या शब्दानुवाद करने का प्राथमिक सिद्धांत विधायिका के मेम्बर या सेंटेंसिया लेजिस को इकट्ठा करना है।

व्याख्या शब्दों के सही अर्थ की खोज को स्वीकार करती है। कानून में किसी विशेष विचार को संप्रेषित करने के लिए अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में उपयोग किया जाता है। यह काम आसान नहीं है क्योंकि सामान्य बातचीत या पत्राचार में भी "भाषा" को अक्सर गलत समझा जाता है। त्रासदी यह है कि हालांकि पत्राचार या बातचीत के मामले में जिस व्यक्ति ने शब्द बोले हैं या भाषा का उपयोग किया है, उससे स्पष्टीकरण के लिए संपर्क किया जा सकता है, लेकिन विधायिका से संपर्क नहीं किया जा सकता है क्योंकि कोई कानून या अधिनियम लागू करने के बाद अधिकारहीन बन जाती है, जहां तक उस विशेष अधिनियम का संबंध है और यह स्वयं इसकी व्याख्या नहीं कर सकता है । इसमें कोई संदेह नहीं है कि विधायिका के पास इस प्रकार बनाए गए कानून को संशोधित करने या निरस्त करने की शक्ति है और वह इसका अर्थ भी घोषित कर सकती है, लेकिन यह केवल द्वारा

कानून बनाने की पूरी प्रक्रिया शुरू करने के बाद कोई अन्य कानून या संविधि बनाकर ही किया जा सकता है ।

कानून विधायिका का एक आदेश होने के कारण, यह आवश्यक है कि इसे व्यक्त किया जाए स्पष्ट और असंदिग्ध भाषा में। अदालतों के ऐसा कहने के बावजूद, मसौदा तैयार करने वालों ने बहुत कम ध्यान दिया है और वे अभी भी उस पुराने ब्रिटिश जिंगल का बखान करते हैं "मैं संसदीय मसौदा तैयार करने वाला हूँ। मैं देश के कानून बनाता हूँ। और मुकदमेबाजी के आधे हिस्से में से, निस्संदेह मैं ही कारण हूँ ", जिसका उल्लेख इस न्यायालय द्वारा किया गया था *महल प्रशासन बोर्ड बनाम राम वर्मा भारतन थम्पुरन*, P.1195 पर ए. आई. आर. (1980) एससी 1187 में । *किर्बी बनाम लेदर*, [1965] 2 आल ई. आर. 441 में ड्राफ्टमैन की (यू. के.) सीमा अधिनियम, 1939 की धारा 22 (2) (बी) के संबंध में कड़ी आलोचना की गई थी, क्योंकि यह कहा गया था कि यह धारा इतनी अस्पष्ट थी कि ड्राफ्टमैन अस्वस्थ दिमाग के रहे होंगे।

हालाँकि, जहाँ शब्द स्पष्ट थे, वहाँ कोई दुर्बोधता नहीं है कोई अस्पष्टता नहीं है और विधायिका की मंशा स्पष्ट रूप से व्यक्त की गई है, न्यायालय के लिए वैधानिक प्रावधानों को नवपरिवर्तन करने या संशोधित करने या बदलने का कार्य अपने ऊपर लेने की कोई गुंजाइश नहीं है। उस स्थिति में न्यायाधीशों को केवल न्यायिक वीरता की प्रदर्शनी में यह घोषणा नहीं करनी चाहिए कि वे एक कानून निर्माता की भूमिका निभा रहे हैं । उन्हें याद रखना होगा कि एक रेखा है, हालांकि पतली है, जो निर्णय को कानून से अलग करती है। उस रेखा को पार या मिटाया नहीं जाना चाहिए। इसे " इसे पार न करने की आवश्यकता की एक सतर्क मान्यता और ऐसा ना करने का सहज ज्ञान के साथ-साथ प्रशिक्षित अनिच्छा " द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है । (देखें: फ्रैंकफर्टर, "न्यायशास्त्र पर निबंध" में कानूनों के पढ़ने पर कुछ विचार, कोलंबिया लॉ रिव्यू, पी. 51.)

यह सच है कि इस न्यायालय को संविधान की व्याख्या करने की स्वतंत्रता प्राप्त है जो किसी कानून की व्याख्या करने में उपलब्ध नहीं है और इसलिए, *डुपोर्ट स्टील्स लिमिटेड बनाम सर्स* (1980) 1 ऑल ई. आर. 529, पी. 542 सर (1980) में लॉर्ड डिप्लॉक ने जो कहा है, उसे पुनः प्रस्तुत करना इस स्तर पर उपयोगी होगा:

"यह जनता के न्यायपालिका की राजनीतिक निष्पक्षता में निरंतर विश्वास को खतरे में डालता है, जो कानून का शासन की निरंतरता के लिए आवश्यक है, यदि न्यायाधीश, व्याख्या की आड़ में, कानूनों में अपने पसंदीदा संशोधन प्रदान करते हैं जो उनके संचालन के अनुभव से पता चला है इसके परिणाम यह हुए हैं कि जिस न्यायालय के समक्ष मामला आता है उसके सदस्य इसे सार्वजनिक हित के लिए हानिकारक मानते हैं।"

अतः जहाँ "भाषा" स्पष्ट है, वहाँ विधानमंडल का इरादा प्रयोग की गई भाषा से एकत्र किया जाना है। ध्यान में रखने वाली बात यह है कि कानून में क्या कहा गया है और क्या नहीं कहा गया है। एक निर्माण जिसके लिए शब्दों के समर्थन, जोड़ या प्रतिस्थापन की आवश्यकता होती है या जिसके परिणामस्वरूप शब्दों की अस्वीकृति होती है, से बचा जाना चाहिए, जब तक कि यह अपवाद के नियम सहित आवश्यकता के अंतर्गत नहीं आता है, जो मामला नहीं है। *ग्वालियर रेयॉन्स सिल्क विनिर्माण (बुनाई) कंपनी लिमिटेड बनाम निहित वनों का कस्टोडियन*, ए. आई. आर. (1990) एस. सी. 1747 पी. 1752; *श्याम किशोरी देवी बनाम पटना नगर निगम*, ए. आई. आर. (1966) एस. सी. 1678 पी. 1682; ए. आर. *अंतुले बनाम रामदास श्रीनिवास नायक*, [1984] 2 एस. सी. सी. 500, पीपी. 518, 519। वास्तव में, न्यायालय कानून को फिर से तैयार नहीं कर सकता क्योंकि उसके पास कानून बनाने की कोई शक्ति नहीं है। [देखें *केरल राज्य बनाम मथाई वर्गीज*, [1986] 4 एस. सी.

सी. 746, पी. 749 और *भारत संघ बनाम देवकी नंदन अग्रवाल*, ए. आई. आर. (1992) एस. सी. 96 पी. 101।

डॉ. एल. पी. अग्रवाल (ऊपर) के मामले में निर्णय से भी अपीलार्थी को कोई मदद नहीं मिली क्योंकि इसमें शामिल मुद्दे थे कि क्या कार्यकाल पद के संबंध में सेवानिवृत्ति की अवधारणा लागू होती है और समयपूर्व सेवानिवृत्ति के परिणाम। उस संदर्भ में बकाया राशि के भुगतान के लिए निर्देश दिया गया था वेतन आदि। मुद्दे पूरी तरह से अलग थे और इसलिए, उस निर्णय का कोई उपयोग नहीं है।

आर. राजेंद्रन और अन्य आदि आदि (ऊपर) में निर्णय बिल्कुल अलग विवाद के चारों ओर घूमता है। यह अनुच्छेद 310 के तहत शामिल आनंद के सिद्धांत से संबंधित है। उक्त मामले में अन्य बातों के साथ-साथ यह भी देखा गया कि किसी सिविल पद को समाप्त करने की शक्ति उसे बनाने के अधिकार में निहित है। सरकार के पास, निश्चित रूप से, दक्षता प्रदान करने और अर्थव्यवस्था लाने के लिए एक विभाग का पुनर्गठन करने के लिए संवैधानिक प्रावधानों का अधिकार विषय है। यह सद्भावना से किसी पद को समाप्त कर सकता है। उस मामले में आगे यह अभिनिर्धारित किया गया कि ग्राम अधिकारियों के पद को समाप्त करने की मांग राज्य विधानमंडल द्वारा पारित कानून के एक भाग द्वारा की गई थी। सद्भावना या तौर-तरीकों की कमी का श्रेय विधायिका को नहीं दिया जा सकता है। विचार करने के लिए एकमात्र सवाल यह था कि क्या विधायिका रंगीन है जिसमें विधायी क्षमता की कमी है या क्या यह किसी भी संवैधानिक सीमा का उल्लंघन करता है। यह दलील कि संविधान के अनुच्छेद 19 (1) (जी) का उल्लंघन किया गया था, नकारात्मक थी क्योंकि अधिनियम किसी भी पदधारी के अपनी पसंद का कोई भी व्यवसाय करने के अधिकार को प्रभावित नहीं करता था, भले ही वे उस पद पर जो वे धारण कर रहे थे बने रहने में सक्षम न हों।

जहाँ तक कैलाश चंद महाजन और अन्य (ऊपर) का संबंध है, वहाँ मामले में मुआवजे के भुगतान के संबंध में एक विशिष्ट प्रावधान था। इससे बहुत फर्क पड़ता है।

ए. पी. राज्य और अन्य बनाम बोल्लाप्रगाड सूर्यनारायण और अन्य (ऊपर) में निर्णय किसी भी तरह से अपीलार्थी की सहायता नहीं करता है और वास्तव में, वह है जो उसके खिलाफ जाता है। वह मामला कानून द्वारा पदों के उन्मूलन से संबंधित था। उक्त मामले में भी ए. पी. अंशकालिक ग्राम अधिकारी पद उन्मूलन अधिनियम, 1985 की धारा 5 में विशेष रूप से मुआवजे का प्रावधान था। जैसा कि कैलाश चंद महाजन और अन्य (ऊपर) के मामले में संकेत दिया गया है अधिनियम में स्पष्ट अनुबंध एक अंतर बनाती है। वहाँ वर्तमान मामले में कोई मुआवजे के भुगतान के लिए विशिष्ट प्रावधान नहीं है।

संबंधित टिप्पणियां बोल्लाप्रगाद वाद के फैसले के पैराग्राफ 5 में दिखाई दीं इस प्रकार हैं:

"राज्य द्वारा यह तर्क दिया जाता है कि उत्तरदाता हकदार नहीं हैं उपदान या पारिवारिक लाभ योजना का लाभ क्योंकि अंशकालिक ग्राम अधिकारियों के पदों को समाप्त कर दिया गया है अधिनियम ने कहा। जी. ओ. एम. दिनांक 18.4.1980 के तहत ग्रेच्युटी योजना प्रदान करती है, अन्य बातों के साथ-साथ, उस समय ग्राम अधिकारी को उपदान के भुगतान के लिए देने के बाद 58 वर्ष की आयु प्राप्त करने के बाद पद छोड़ने का नियुक्ति प्राधिकारी को सूचना। इसलिए, ग्रेच्युटी योजना स्पष्ट रूप से आयु 58 वर्ष, या 60 वर्ष, जैसा भी मामला हो प्राप्त करने पर पद छोड़ने के तरीके का प्रावधान करता है। केवल तभी जब इस योजना में निर्धारित तरीके से पद से हटा दिया जाये तब ग्रेच्युटी उक्त जी. ओ. एम. के तहत देय हो जाता है। संबंधित धारक द्वारा नियुक्ति प्राधिकरण को नोटिस देने के बाद ही कार्यालय से पदच्युत हो सकते हैं। किया गया यह स्पष्ट रूप से एक स्वैच्छिक त्याग पर विचार करता है

निर्दिष्ट आयु प्राप्त करने पर कार्यालय। सेवानिवृत्ति की कोई आयु नहीं है यह कार्यालय। यह प्रावधान तब लागू नहीं होगा जब, कानून द्वारा, पदों को समाप्त कर दिया जाता है। ऐसी स्थिति में स्वैच्छिक होने का कोई सवाल ही नहीं है नोटिस के बाद पद छोड़ना। उक्त जीओएम के प्रावधान, इसलिए, जब पदों को समाप्त कर दिया जाता है तो आकर्षित नहीं किया जा सकता है कानून। ठीक यही कारण है कि धारा 5 के तहत उक्त अधिनियम, मुआवजे का प्रावधान किया गया है, जो उत्तरदाताओं को प्राप्त हुआ है।

अपीलार्थी की याचिकाओं में से एक धारा 4 (बी) का अध्यादेश के संदर्भ में थी, जो निम्नानुसार है:

“4. बचत - धारा 3 के तहत किया गया निरसन प्रभावित नहीं करेगा -

(क) इस प्रकार निरसित अधिनियम का पूर्व प्रवर्तन या कुछ भी विधिवत किया गया या उसके तहत भुगता गया; या

(ख) अधिनियम के तहत उपार्जित या उपार्जित कोई दायित्व या दायित्व निरस्त किया गया; या

XXX

XXX

XXX”

उक्त प्रावधान भी किसी भी तरह से अपीलार्थी की सहायता नहीं करता है क्योंकि निरस्त अधिनियम के तहत मुआवजे का भुगतान करने के लिए कोई दायित्व या दायित्व अर्जित या वहन नहीं किया गया है। अधिनियम के तहत कोई दायित्व या दायित्व निर्धारित नहीं था क्षतिपूर्ति के भुगतान के लिए।

श्री न्यायमूर्ति एस. के. रे बनाम उड़ीसा राज्य और अन्य, जे.टी. (2003) 1 एस. सी. 166 में निर्णय तथ्यों पर भी विभेदनीय है। उस मामले में उस अधिनियम की योजना के

तहत जिसके तहत अपीलार्थी को नियुक्त किया गया था, न्यास या लाभ का कोई पद धारण करने के लिए नियुक्त व्यक्ति पर प्रतिबंध और विधायिका, केंद्रीय या राज्य या किसी अन्य पद के सदस्य के रूप में उसके कार्य करने पर भी प्रतिबंध था जो लोकपाल के पद के साथ टकराव में आ सकता है। इस बात का भी प्रावधान था कि लोकपाल का पद छोड़ने के बाद भी वह किसी भी पद पर नहीं रह सकते। ये अक्षमताएँ उनसे हमेशा से जुड़ी हुई थीं पद धारण करना बंद करने के बाद आएं। तत्काल मामले में ऐसा कोई प्रावधान नहीं है, और इसके विपरीत अध्यादेश की धारा 6 में निम्नानुसार प्रावधान है:

6. अध्यक्ष और सदस्य का अग्रतर रोजगार, - धारा 3 की उप-धारा (7) में कुछ भी निहित होने के बावजूद निरस्त अधिनियम के अध्यक्ष या न्यायाधिकरण का कोई अन्य सदस्य सरकार या किसी स्थानीय प्राधिकरण के तहत या किसी निगम के तहत राज्य सरकार के स्वामित्व या नियंत्रण में।

जिस पर विचार किया जाना बाकी है वह वैध अपेक्षा की दलील है। 'वैध अपेक्षा' का सिद्धांत अभी भी विकास के एक चरण में है जैसा कि डी स्मिथ प्रशासनिक कानून (5 वीं संस्करण) में बताया गया है। पैरा 8.038)। यह सिद्धांत कानून के शासन की जड़ में है और जनता के साथ सरकारों के व्यवहार में नियमितता, पूर्वानुमेयता और निश्चितता की आवश्यकता है। वैध अपेक्षा के आधार पर इसके प्रक्रियात्मक और मूल पहलुओं को ध्यान में रखते हुए, प्रभु पियर्सन बनाम में स्टेन। गृह विभाग के लिए राज्य सचिव, (1997) 3 सभी ई. आर. 577, पी. 606) (एच. एल.) डाइस के कानून के शासन के विवरण पर वापस जाता है। "संविधान के कानून के अध्ययन का परिचय" (10 वीं संस्करण। 1968 p.203) एक महान न्यायविद को जे. पी. बंसल बनाम के काम में स्थायी मूल्य के सिद्धांतों को शामिल करते हुए। डाइसी ने कहा कि संवैधानिक अधिकारों की जड़ें सामान्य कानून में हैं। उन्होंने कहा:

"अंत में, 'कानून के शासन' का उपयोग अभिव्यक्ति के लिए एक सूत्र के रूप में किया जा सकता है। तथ्य यह है कि हमारे साथ, संविधान का कानून, नियम जो विदेश में हैं स्रोत लेकिन व्यक्तियों के अधिकारों का परिणाम, जैसा कि परिभाषित किया गया है और अदालतों द्वारा लागू किया गया; कि, संक्षेप में, निजी कानून के सिद्धांत अदालतों और संसद की कार्रवाई ने हमारे साथ ऐसा किया है क्राउन और उसके सेवकों की स्थिति निर्धारित करने के लिए विस्तारित; इस प्रकार संविधान देश के सामान्य कानून का परिणाम है ।

लॉर्ड स्टेन कहते हैं कि यह व्यक्तिगत स्वतंत्रता और संगठन की स्वतंत्रता और सार्वजनिक सभा के अधिकारों के बारे में डाइसी की चर्चा का केंद्र बिंदु है और यह स्पष्ट है कि डाइसी का मानना है कि कानून के शासन का प्रक्रियात्मक और मूल दोनों के रूप में ठोस प्रभाव रखता है । "कानून का शासन निष्पक्षता के न्यूनतम मानकों को लागू करता है, दोनों मूल और प्रक्रियात्मक ।" पियर्सन के तथ्यों पर, बहुमत का मानना था कि राज्य के सचिव द्वारा सजा के उच्च शुल्क को बनाए नहीं रख सकते थे जो कि न्यायपालिका द्वारा अनुशंसित था, जबकि स्वीकृत था कि कोई उत्तेजनाजनक परिस्थिति नहीं थी । राज्य पूर्वव्यापी प्रभाव से शुल्क भी नहीं बढ़ा सकता था ।

'वैध अपेक्षा' से संबंधित इस शाखा के इस शाखा में 'वैध अपेक्षा' से संबंधित बुनियादी सिद्धांतों को *काउंसिल ऑफ सिविल सर्विस यूनियन्स और अन्य बनाम सिविल सेवा मंत्री* (1985 एसी 374 (408-409) (आमतौर पर सी.सी.एस.यू. मामले के रूप में जाना जाता है) में लॉर्ड डिप्लॉक द्वारा प्रतिपादित किया गया था। । उस मामले में यह देखा गया था कि एक वैध अपेक्षा उत्पन्न होने के लिए, प्रशासनिक प्राधिकरण के निर्णयों को प्रभावित करना चाहिए व्यक्ति को किसी ऐसे लाभ या लाभ से वंचित करके जो (i) उसे अतीत में निर्णय लेने वाले द्वारा प्राप्त करने की अनुमति दी गई थी और जिसे वह प्राप्त कर सकता था।

वैध रूप से तब तक जारी रखने की अनुमति की उम्मीद की जा सकती है जब तक कि वहाँ नहीं है उसे इसे वापस लेने के लिए कुछ तर्कसंगत आधार बताए गए हैं जिन पर उसे टिप्पणी करने का अवसर दिया गया है; या (ii) उसे निर्णय लेने वाले से आश्वासन मिला है कि उसे दिए बिना उन्हें वापस नहीं लिया जाएगा। सबसे पहले यह तर्क देने के लिए कारणों को आगे बढ़ाने का अवसर कि उन्हें वापस नहीं लिया जाना चाहिए। इसका प्रक्रियात्मक भाग एक अभ्यावेदन से संबंधित है कि निर्णय लेने से पहले सुनवाई या अन्य उपयुक्त प्रक्रिया की व्यवस्था की जाएगी। सिद्धांत का मूल भाग यह है कि यदि एक प्रतिनिधित्व है कि मूल प्रकृति का एक लाभ प्रदान किया जाएगा या यदि व्यक्ति पहले से ही लाभ प्राप्त कर रहा है तो इसे जारी रखा जाएगा और वस्तुतः परिवर्तित नहीं किया जायेगा, तब उसी को लागू किया जा सकता है। उपरोक्त मामले में, लॉर्ड फ्रेसर, ने स्वीकार किया कि सिविल सेवकों की एक वैध अपेक्षा थी कि उनकी ट्रेड यूनियन सदस्यता वापस लेने से पहले उनसे परामर्श किया जाएगा क्योंकि अतीत में पूर्व परामर्श मानक अभ्यास था जब भी सेवा की शर्तों में काफी बदलाव किया जाता था। लार्ड डिपलॉक थोड़ा आगे बढ़ गए, जब उन्होंने कहा कि वे एक वैध उम्मीद रखते हैं कि वे ट्रेड यूनियन की सदस्यता के लाभों का आनंद लेते रहेंगे, जिसके संबंध में हित सुरक्षा योग्य था। एक अपेक्षा एक स्पष्ट वादे या प्रतिनिधित्व या स्थापित पिछली कार्रवाई या व्यवस्थित आचरण पर आधारित हो सकती है। प्रतिनिधित्व स्पष्ट और असंदिग्ध होना चाहिए। यह व्यक्ति या आम तौर पर व्यक्तियों के वर्ग के लिए एक प्रतिनिधित्व हो सकता है।

फिर भी, यह अंग्रेजी कानून के तहत माना गया है कि निर्णय के निर्माता का लोक हित में नीति को बदलने की स्वतंत्रता को मूल वैध अपेक्षा के सिद्धांत के अनुप्रयोग से बाधित नहीं किया जा सकता है। पहले के मामलों में अवलोकन वर्तमान में प्रचलित नियम की तुलना में अधिक अनम्य नियम को पेश करते हैं। *आर. बनाम आई. आर. सी., एक्स पी प्रेस्टन* (1985 ए. सी. 835) में हाउस ऑफ लॉर्ड्स ने इस याचिका को खारिज कर दिया कि

कैदियों की कुछ श्रेणियों के लिए पैरोल से संबंधित परिवर्तित नीति के लिए कैदी के साथ पूर्व परामर्श की आवश्यकता थी, लॉर्ड स्कारमैन ने कहा:

"लेकिन उनकी वैध अपेक्षा क्या थी। पदार्थ को देखते हुए और पैरोल को नियंत्रित करने वाले विधायी प्रावधानों का उद्देश्य, सबसे अधिक कि एक दोषी कैदी वैध रूप से उम्मीद कर सकता है कि उसका मामला सचिव की किसी भी नीति के आलोक में व्यक्तिगत रूप से जांच की गई राज्य इसे अपना उचित समझता है बशर्ते कि हमेशा अपनाई गई नीति एक कानून द्वारा उसे दिए गए विवेकाधिकार का वैध प्रयोग। कानून द्वारा मंत्री को दिया गया विवेकाधिकार कुछ मामलों में हो सकता है नीति परिवर्तनों को बाधित करने या रोकने के लिए भी प्रतिबंधित किया गया है।

ट्यूजेस बनाम स्वास्थ्य और सामाजिक सुरक्षा विभाग (एचएल) 1985 एसी 776 (788) में लॉर्ड डिप्लॉक की टिप्पणियों का भी ऐसा ही प्रभाव है:

"प्रशासनिक नीतियाँ बदलती परिस्थितियों के साथ बदल सकती हैं, जिसमें सरकारों के राजनीतिक रंग में परिवर्तन शामिल हैं। द. इस तरह के परिवर्तन करने की स्वतंत्रता कुछ ऐसी है जो हमारे जीवन में निहित है। सरकार का संवैधानिक रूप।"

ऐसा करने से पहले, हम कुछ महत्वपूर्ण निर्णयों का उल्लेख करेंगे - यह न्यायालय यह पता लगाने के लिए कि हमारे देश में मूल वैध अपेक्षा का सिद्धांत किस हद तक स्वीकार किया जाता है। *नवज्योति को-ऑप ग्रुप हाउसिंग सोसायटी बनाम भारत संघ*, [1992] 4 एस. सी. सी. 477, में प्रक्रियात्मक निष्पक्षता का सिद्धांत लागू किया गया था। उस मामले में भूमि के आवंटन के लिए सहकारी आवास समितियों की अस्तित्व सूची के अनुसार वरिष्ठता को तत्पश्चात निर्णय के बाद बदल दिया गया था। पिछली नीति यह थी कि भूमि के आवंटन के संबंध में आवास समितियों के बीच वरिष्ठता पंजीयक के साथ

समिति के पंजीकरण की तारीख पर आधारित होनी थी। लेकिन 20.1.1990 पर, पंजीयक द्वारा अंतिम सूची के अनुमोदन की तारीख के आधार पर वरिष्ठता की गणना करके नीति में बदलाव किया गया था। इससे भूमि आवंटन के लिए समितियों की मौजूदा वरिष्ठता बदल गई। इस न्यायालय ने माना कि समितियाँ 'वैध अपेक्षा' की हकदार थीं कि आवंटन के मामले में पिछली सुसंगत प्रथा का पालन किया जाएगा, भले ही ऐसे आवंटन के लिए निजी कानून में कोई अधिकार न हो। प्राधिकरण मानदंड में परिवर्तन को उचित ठहराने के लिए सार्वजनिक नीति के किसी प्रमुख कारण के बिना पिछली वरिष्ठता सूची के अनुसार समितियों की वैध अपेक्षा को विफल करने का हकदार नहीं था। इस तरह का कोई प्रमुख जनहित नहीं दिखाया गया था। 'वैध अपेक्षा' के सिद्धांत के अनुसार, यदि प्राधिकरण ने किसी व्यक्ति की वैध अपेक्षा को विफल करने का प्रस्ताव रखा है, तो उसे मामले में प्रतिनिधित्व करने का अवसर देना चाहिए। हेल्सबरी के इंग्लैंड के कानूनों (पृष्ठ 151, खंड 1 (1) (चौथा संस्करण पुनः जारी) और सीसीएसयू मामले का संदर्भ दिया गया था। यह माना गया कि सिद्धांत, संक्षेप में, सार्वजनिक प्राधिकरण पर एक कर्तव्य लगाता है वैसी वैध अपेक्षा के संबंध में सभी प्रासंगिक बातों को ध्यान में रखते हुए। निष्पक्ष रूप से कार्य करने के लिए व्यवहार के अंतर्गत, नीति के परिवर्तन के खिलाफ प्रतिनिधित्व करने का उचित अवसर आया। निष्पक्ष व्यवहार के दायरे में, नीति में बदलाव के खिलाफ प्रतिनिधित्व करने का उचित अवसर आया।

अंत में हम *नेशनल बिल्डिंग कंस्ट्रक्शन कॉरपोरेशन बनाम एस.रघुनाथन और अन्य* (1998 (7) एससीसी 66) मामले में तीन न्यायाधीशों वाली बेंच के फैसले पर आते हैं। यह मामला वर्तमान मामले के लिए अधिक प्रासंगिक है, क्योंकि यह भी एक सेवा की बात है। उत्तरदाताओं को सीपीडब्ल्यूडी में नियुक्त किया गया था और वे इराक में एनबीसीसी में प्रतिनियुक्ति पर चले गए और उन्होंने प्रतिनियुक्ति पर रहते हुए सीपीडब्ल्यूडी में अपना ग्रेड वेतन और प्रतिनियुक्ति भत्ता प्राप्त करने का विकल्प चुना। इसके अलावा,

एनबीसीसी ने उन्हें मूल वेतन का 125% विदेशी भत्ता दिया। इस बीच चौथे वेतन आयोग की सिफारिश पर सीपीडब्ल्यूडी में उनका मूल वेतन 1.1.1986 से संशोधित किया गया था। उन्होंने तर्क दिया कि एनबीसीसी द्वारा उनके संशोधित वेतनमान पर 125% की उपरोक्त वृद्धि दी जानी चाहिए। इसे एनबीसीसी ने दिनांक 15.10.1990 के आदेश द्वारा स्वीकार नहीं किया। जिन विशिष्ट परिस्थितियों में एनबीसीसी इराक में काम कर रही थी, उन्हें देखते हुए वैध अपेक्षा पर आधारित उत्तरदाताओं के तर्क को खारिज कर दिया गया। यह देखा गया कि 'वैध अपेक्षा' के सिद्धांत में वास्तविक और प्रक्रियात्मक दोनों पहलू थे। इस न्यायालय ने एक स्पष्ट सिद्धांत दिया कि वैध अपेक्षा पर दावों के लिए प्रतिनिधित्व और परिणामी हानि पर उसी तरह निर्भरता की आवश्यकता होती है जैसे कि वचनबंधन पर आधारित दावों पर। यह सिद्धांत 'तर्कसंगतता' के संदर्भ में और 'प्राकृतिक न्याय' के संदर्भ में विकसित किया गया था।

वैध अपेक्षा के सिद्धांत वर्तमान मामले में तथ्यों पर लागू नहीं होते हैं ।

किसी भी दृष्टिकोण से देखने पर अपील किसी भी योग्यता से रहित है और याचिका खारिज करने योग्य है, जो हम निर्देशित करते हैं।

के. के. टी.

अपील खारिज।